Volume-3, No. II, Aug-2016, pp. 64-66

शिक्षा में न्याय दर्शन की उपयोगिता

डॉ0 रवि कुमार, एसोसिएट प्रोफेसर (एम. एड. विभाग)
बालाजी एकेडमी, मुरादाबाद उत्तर–प्रदेश भारत।

सार

न्याय दर्शन प्राचीन भारतीय दर्शन का एक महत्वपूर्ण अंग है जो 600 वर्ष ईसा पूर्व प्रतिपादित हुआ जान पड़ता है–''खीष्टब्दारम्भात 600 वर्षेभ्यः पूर्व वर्तमान इति वदन्ति स्मः।'' न्याय दर्शन 400–500 ई0 पू0 तक एक अति लोकप्रिय अध्ययन हो चुका था ऐसा इतिहासकारों का मत है। न्याय दर्शन या न्यायशास्त्र वस्तुतः ज्ञान प्राप्ति की 'सुतर्क' समीक्षात्मक प्रणाली है। इसका आरम्भ करने वाले गौतम ऋषि थे जो महर्षि व्यास के गुरू थे। किन्हीं कारणों से व्यास से अप्रसन्न होकर उन्होंने उन्हें अपनी आँखों से न देखने का प्रण किया, परन्तु व्यास के प्रार्थना–सेवा से प्रसन्न होकर अपने पाद–अंगुष्ठ में उन्होंने नेत्र धारण किया और उससे व्यास को देखा तथा जो ज्ञान प्रणाली प्रदान की वही न्याय दर्शन है। इस कथा के आधार पर इसे 'अक्षपाद' दर्शन भी कहा गया है। अक्षपाद गौतम ऋषि का एक नाम भी है। वस्तुतः इस प्रणाली में पदार्थ तत्व के मूल तक पहुँचने से भी, वह 'अक्षपाद' दर्शन हुआ। न्याय दर्शन का अन्य नाम हेतु विद्या, वाद विद्या, अन्वीक्षकी तर्कशास्त्र, प्रमाण शास्त्र आदि है। तात्विक चिन्तन मनन के दौरान वाद–विवाद, तर्क, अनुवीक्षा, प्रमाणीकरण हुआ करता था, उसके सिद्धान्तों को सूत्र–बद्ध महर्षि गौतम ने पहली बार किया और इस दर्शन प्रणाली का नाम न्याय दर्शन रखा गया, ''स्तचेबांस्की के अनुसार इसका उद्भव सार्वजनिक वाद–विवाद के रीति–विधान के अध्ययन से हुआ।'' न्याय दर्शन इस प्रकार ''ज्ञान के किसी क्षेत्र में विषयों और वस्तुओं का तर्क–संगत विश्लेषण करने और उनका आलोचनात्मक अध्ययन करने की प्रणाली है।''

मुख्य शब्दः न्याय दर्शन, यर्थाथ ज्ञान, आध्यात्म, मोक्ष, अध्यापक, विद्यार्थी पाठयक्रम, लौकिक ज्ञान

न्याय दर्शन को समझने के लिये हमें न्याय शब्द का तात्पर्य समझना जरूरी है। न्याय आत्मा के दर्शन या ज्ञान का एक उपागम है। तर्क या प्रमाण प्रस्तुत करने की विद्या न्याय है। वात्स्यायन ने न्याय सूत्र पर भाष्य लिखा है जिसमें न्याय का तात्पर्य अर्थ या वस्तु–तत्व की परीक्षा बताया है–

प्रमाणेरथ परीक्षण न्यायः । (न्याय सूत्र)

अब स्पष्ट है कि न्याय किसी भी वस्तु की यथार्थता को जानने, समझने समझाने, प्रतिपाद्य विषय की सिद्धि, समीक्षा–आलोचना करने की युक्ति है जिसको सभी लोग प्रमाण स्वरूप मानें। इससे जो सिद्धि होती है वह सर्वमान्य है, ऐसा संकेत मिलता है। न्याय एक प्रकार से लोगों का भ्रम या मोह देर करने का एक साधन है, वृद्धि को विमल या स्पष्ट करने वाला है जिससे कि शास्त्रों को समझने की योग्यता आती है। अब स्पष्ट हो जाता है कि न्याय का तात्पर्य ज्ञान प्राप्ति के तर्क युक्त साधन से है, ज्ञानोपलबधि का यह एक माध्यम एवं उपागम है और शिक्षा लेने देने की प्रक्रिया का सहयोगी है। न्याय का तात्पर्य विधि या अंग्रेजी भाषा के 'ला' से नहीं है जिसका सम्बन्ध जज, मुकदमें और उसके फैसले से होता है। न्याय एवं शिक्षा की प्रक्रिया से सम्बन्धित है। यह ज्ञान शिक्षा की प्रक्रिया से योग्य बनाने का एक साधन भी माना जा सकता है।

न्याय दर्शन के अनुसार शिक्षा के सिद्धान्त

न्याय दर्शन के निम्नलिखित सिद्धान्त हैं–बुद्धि द्वारा आत्मा का दर्शन किया जाना चाहिए।[1]

1. सभी प्रश्नों का समाधान तर्क प्रसूत होना चाहिए।
2. न्याय दर्शन एक बहुसत्तावादी दर्शन है।
3. ईश्वर की परमसत्ता का अस्तित्व नहीं।''[2]
4. न्याय दर्शन एक वस्तुवादी दर्शन है।
5. न्याय दर्शन जगत को असत्य, माया–जाल नहीं मनता है। जगत का प्रत्येक प्राणी कुछ न कुछ अनुभव प्रतिक्षण करता है।[3]
6. न्याय दर्शन, न्याय सूत्र, न्याय भाषा, न्याय वार्तिक, न्याय वार्तिक का तात्पर्य टीका आदि से व्यापक बनाया गया है।''[4]
7. न्याय दर्शन मीमांसा व वेदान्त के विचारों को दूसरे ढंग से रखकर मनुष्यों को आलसी व अकर्मण्य, भोगवादी न बनाकर तर्क आधारित सत्य मार्ग पर ले जाने का प्रयास है।[5]
8. न्याय दर्शन और सांख्य, योग, वैशेषिक आदि दर्शन भी सूत्र शैली में प्रकट किए गए है।
9. न्याय दर्शन में पदार्थ विवेचन और प्रमाण विश्लेषण बहुत ही वैज्ञानिक ढंग का है। उसकी विषय विवेचन पद्धति सूक्ष्म, दुर्गम और नितान्त पारिभाषिक है।[6]

न्याय दर्शन के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य

1. यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति का उद्देश्य– न्याय दर्शन के वर्ण्य विषय से मालूम होता है कि न्याय सूत्रों के प्रणेता का उद्देश्य मनुष्यों को यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति

कराना था जो जगत को मिथ्या न मानकर बल्कि वास्तविक मानता हो। यह ज्ञान प्रत्यक्ष हो जो इन्द्रिय जनित अर्न्तज्ञान रूप में हो, लौकिक और अलौकिक दोनों ही, अनुमान, उपमान एवं शब्द से प्रमाणित हो, मिथ्या, संशय व भ्रांति से रहित हो तथा 'कुतर्क' से दूर हो। यह सर्वोपरि या प्रमुख उद्देश्य कहा जा सकता है।

2. आध्यात्मिक विकास का उद्देश्य– यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति क्यों की जावे इसका उत्तर भी शिक्षा का उद्देश्य स्पष्ट करता है। आध्यात्मिक विकास का अर्थ है व्यक्ति को आत्मा, जीव, ईश्वर, जगत का सद्विचार, इनके बारे में ज्ञान का विकास।[7]इसके अलावा न्याय दर्शन ने ईश्वर एवं आत्मा, जीव की सत्ता को स्वीकार किया है। ''न्याय सहजबुद्धि अनुभवों के प्रति ईमानदार रहने का प्रयत्न करता है और अनेकत्वादी यथार्थवादी के आध्यात्मिक ज्ञान का निर्माण करता है।''[8]

3. अपवर्ग या मोक्ष प्राप्ति का उद्देश्य– न्याय दर्शन के अनुसार शिक्षा का एक अन्य उद्देश्य है अपवर्ग या मोक्ष प्राप्ति। इससे मनुष्य को पदार्थ, जीव, आत्मा, ईश्वर का सही संशयरहित ज्ञान होता है।

न्याय दर्शन में अध्यापक की भूमिका

अध्यापक के सम्बन्ध में भी न्याय दर्शन के विचार मिलते हैं यद्यपि सीधे नहीं। आचार्य अर्थात जिसके आदर्श आचरण को विद्यार्थी भी धारण करें स्वयमेव तपस्वी ब्रह्मचारी हो और वन, गुफा, समुद्र या नदी के तट पर एकान्त में रहता हो जिससे कि वह सांसारिक मोह–माया से मुक्त होकर ज्ञान प्राप्त करें और प्रदान भी करें। उसे आत्मज्ञान पूरी तौर से हो और अपने अन्तर्ज्ञान को विद्यार्थी को भी देने में समर्थ हो सके। अध्यापक ने समाधि विशेष के अभ्यास से तत्वज्ञान प्राप्त किया हो। इस प्रकार अध्यापक भी पूर्णरूपेण अनुशासित हो, उसे अत्माानुशासन हो अर्थात् बुद्धि, मन, आत्मा शुद्ध हो और उन पर उसका नियंत्रण भी हो।[9]

अध्यापक व विद्यार्थी में पारस्परिक प्रेम का भाव पाया जाता था। ''उस अपवर्ग की प्राप्ति के लिये यम–नियम से आत्म संस्कार करना चाहिये। यम कहते हैं समान आश्रमियों का धर्म साधन जैसे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि धर्म का पालन। नियम–विशिष्ट जिज्ञासु पुरूषों के धर्म साधन को कहते हैं, जैसे–शौच, सन्तोष, स्वाध्याय, ईश्वर प्राणिधान। उक्त द्वारा अधर्मनाश होता है। आध्यात्म विधि योगशास्त्र से ग्रहण करनी चाहिए। वह विधि योगशास्त्र में यम, नियम आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारण आदि उपायों से बतायी गयी है। ये सभी गुण अध्यापक में अपेक्षित हैं, ऐसा न्याय दर्शन में मिलता है।[10]

न्याय दर्शन में विद्यार्थी का व्यक्तित्व

न्याय दर्शन के अनुसार विद्यार्थी एक जिज्ञासु और ब्रह्मचारी होता है, सुकर्म करने वाला होता है, सद्ज्ञान एवं सच्चरित्र से युक्त होता हैं वह आत्मानुशासित एवं आचार्य के उपदेश लेने का अभ्यास करने वाला होता है, राग, द्वेष एवं मोह से रहित होकर विद्याभ्यास के तप में प्रवृत होता है। विद्यार्थी को अपने ज्ञान के अभिमान से रहित होना चाहिये। दूसरे शब्दों में उसे विनम्र एवं विनयशील होना चाहिये। अपने ज्ञान की वृद्धि के लिये उसे 'जागृत ज्ञान के अधीन' होना चाहिये एवं कृतसंकल्प भी रहना चाहिये। उसे समाधिस्थ होना चाहिये अर्थात जितेन्द्रिय होना चाहिये। विद्यार्थी को विवेक–बुद्धि से युक्त कर्त्तव्यपरायण होना चाहिये।[11] इसके लिये उसे गुरू से उपदेश लेना चाहिये तथा मर्मज्ञों के साथ संवाद करना चाहिये। ज्ञान ग्रहण करके उसका अभ्यास–मनन करना विद्यार्थी का कर्म एवं धर्म दोनों है अन्यथा शिक्षा–विद्या का सर्वोच्च लक्ष्य 'अपवर्ग' की प्राप्ति सम्भव नहीं है।

न्यायदर्शन के अनुसार पाठ्यक्रम

न्याय दर्शन में प्रत्यक्ष ज्ञान के लौकिक और अलौकिक दो पक्ष बताए गए हैं।[12] इससे यह संकेत मिलता है कि न्याय दर्शन के अनुसार शिक्षा की पाठ्यर्चा में लौकिक एवं आध्यात्मिक या अलौकिक विषय होने चाहिये। लौकिक विषयों में भाषा, साहित्य और व्याकरण, मानवी एवं प्राकृतिक अध्ययन रखे जा सकते हैं जिनका दृश्य जगत से सम्बन्ध है। न्याय दर्शन में तर्क का जो आश्रम है वह वृहद ज्ञान का सूचक है। तर्कशास्त्र को अवश्यकविषय माना है। क्योंकि न्यायदर्शन 'वाकोवाक्', 'अनुवीक्षिकी', पंचावयव युक्त वाक्य', आदि नाम से ज्ञात है। तर्कशास्त्र भी लौकिक ज्ञान का विषय कहा जा सकता है। अलौकिक ज्ञान के अन्तर्गत दर्शनशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र, एवं आत्मनुभूति तथा अन्तर्ज्ञान की क्रियाएँ आती हैं। ईश्वर प्रामाण का विषय न्याय दर्शन में 'मिति' के नाम से प्रख्यात है।

न्यायदर्शन के अनुसार शिक्षण विधि

न्याय दर्शन में लिखा है कि ''न्याय का मुख्य ज्ञान मीमांसा, तर्कशास्त्र, और विधिशास्त्र में पाया जाता है जिसने भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदायों को प्रभावित किया है।'' बात सही है क्योंकि दर्शन की मुख्य विधि तर्कयुक्त होती है जिसका व्यवहारिक प्रयोग न्यादर्शन में हुआ है। यह तथ्य शिक्षा के संदर्भ में भी सही माना जा सकता है। शिक्षा के क्षेत्र में भी न्याय दर्शन का यह मूल्यवान योगदान कहा जा सकता है। प्रो0 लक्ष्मीलाल के0 ओड का मत है कि ''प्रत्यक्ष प्रणाली न परोक्ष प्रणाली के बीच इतना अच्छा समन्वय प्रायः नहीं देखा जाता'' जितना कि न्याय दर्शन में है। प्रो0 ओड

ने यह भी संकेत किया है कि ''हमारी आधुनिक शिक्षण विधियाँ जिनमें प्रत्यक्ष प्रणाली आगमन निगमन प्रणाली, प्रयोगात्मक प्रणाली, प्रोजेक्ट विधि, वैज्ञानिक विधि, संश्लेषण विश्लेषण विधि, चर्चा, विधि, स्वाध्याय विधि आदि न्याय के विभिन्न प्रमाणों के अन्तर्गत आ जाती है।[13] इस कथन से स्पष्ट है कि न्याय दर्शन में विभिन्न प्रकार की शिक्षण विधियों का प्रयोग किया गया है और विभिन्न नई विधियों के निर्माण में इसने सहयोग दिया है। न्याय दर्शन द्वारा अनुमोदित शिक्षण विधियाँ ये हैं– तर्क विधि, आगमन निगमन विधियाँ, विश्लेषण एवं संश्लेषण विधियाँ, चर्चा विधि या विचार विमर्श विधि, समूह या शास्त्रार्थ विधि, स्वाध्याय विधि। शब्द प्रमाण प्रस्तुत करने में प्रश्नोत्तर, व्याख्यान, विचार–विस्तार विधियों का भी प्रयोग सांकेतिक है। 'धार्मिक प्रवचन', 'वैज्ञानिकों के वचन', 'पर्यवेक्षित अध्ययन', 'पुस्तक अध्ययन' की विधियों का प्रयोग न्याय दर्शन में हुआ है। ऐसा आधुनिक विचारकों का मत है। डॉ0 राधाकृष्णन ने लिखा है कि ''न्यादर्शन की सबसे बड़ी देन इसकी समीक्षात्मक तथा वैज्ञानिक अन्वेषण की तर्क शैली है।''[14]

न्याय दर्शन के अनुसार विद्यालय

न्याय दर्शन के अनुसार विद्यालय का तात्पर्य गुरू–गृह या ऋषि आश्रम भी होता है।[15] गौतम एक ऋषि थे और जहाँ वे निवास करते थे वहीं पर विद्यालय भी लगता था। मेघातिथि के स्थान पर आज भी विद्यालय लगता है। इसका संकेत ज्ञान पाने वाले लोगों का एकत्र होना है। पहले यह नियमित था और आज यह केवल चैत्र मास की नवमी को होता है। अतएव न्याय दर्शन के अनुसार विद्यालय ऐसे स्थल या केन्द्र होते हैं या ऋषि आश्रम हैं जो परम्मपरागत चले आ रहे हैं। आधुनिक काल के विद्यालय से यह भिन्न होते थे। विद्यालय साम्प्रदायिक ज्ञान देने वाले स्थल कहे जा सकते हैं ऐसा न्याय दर्शन के अध्ययन से ज्ञात होता है।

न्याय दर्शन के अनुसार अनुशासन

अनुशासन के दमनवादी, प्रभाववादी का पालन न्याय दर्शन संस्तुत शिक्षा में पाया जाता है। न्याय सूत्र– 'तद भावम्चापवर्गे' (4 : 2 : 45) के अनुसार सभी दुखों का अभाव अपवर्ग में होता है यहाँ पर भी हमें दुखों को नष्ट करने के लिये कर्म एवं चरित्र की आवश्यकता होती है। शरीर की प्रवृत्ति सुखानुभूति की ओर होती है। राग, द्वेष और मोह के कारण दुःख होता है। अनुशासन के लिए समाधि का होना आवश्यक है। भाष्यकार वात्स्यायन ने लिखा है कि ''तत्वज्ञान की इच्छा से धारक प्रयत्न द्वारा इन्द्रियों से मन को हटाकर उस धार्यमाण मन का आत्मा से संयोग ही समाधि है। उस समाधि के होने पर बुद्धि इन्द्रियों के विषयों की ओर नहीं दौड़ती। ऐसा अभ्यास करते–करते इन्द्रियाँ विषयों की तरफ न जाने पावें एक दिन तत्वज्ञान हो ही जाता है।[16] इससे स्पष्ट है कि सत्य एवं ज्ञान की प्राप्ति के लिये शरीर व मन दोनों पर नियंत्रण करना आवश्यक है।

''पूर्व शरीराभ्यास्त समाधि के धर्माख्य संस्कार विशेष की स्थिति से इस समाधि की उत्पत्ति कही जाती है।[17] योगाभ्यास के लिये यम, नियम, प्रत्याहार आदि को अपनापा चाहिये। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि धर्म का पालन करना चाहिये। इससे आत्मसंस्कार होता है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि न्याय दर्शन आत्मनुशासन पर बल देता है, वा०य एवं आन्तरिक दोनों प्रकार के नियंत्रण का समर्थन करता है। जिस स्वतत्र अनुशासन (फ्री डिस्प्लिन) की आज मांग है वह न्याय दर्शन को मान्य नहीं है। विद्याग्रहण करना एक तप है जिसके लिये व्यक्ति सुकर्म करे योग्यता प्राप्त करे तथा वन, गुफा, समुद्र या नदी तट आदि एकान्त स्थानों में आचार्यों से उपदेश ले। इस काल में भी शिक्षकों के हाथ में शिक्षा का दायित्व था। इस समय शिक्षकों का स्थान महत्वपूर्ण होने के कारण शिक्षकों को ही शैक्षिक व्यवस्था देखनी पड़ती थी।[18]

सन्दर्भ

1. स्वामी द्वारिकादास शास्त्री : न्यायदर्श, पृष्ठ– 60
2. स्वामी द्वारिकादास शास्त्री : न्यायदर्श, पृष्ठ– 170.
3. स्वामी द्वारिका दास शास्त्री : न्यायदर्श, पृष्ठ– 61.
4. डॉ0 एम0 के0 देवराज : भारतीय दर्शन, पृष्ठ– 237.
5. वही, पृष्ठ– 238.
6. स्वामी द्वारिकादास शास्त्री : न्यायदर्श, पृष्ठ– 9.
7. पं0 रंगनाथ पाठक– षड्दर्शन रहस्य, पृष्ठ– 133.
8. डॉ0 राधाकृष्णन– भारतीय दर्शन (हिन्दी अनुवाद) पृष्ठ–173।
9. स्वामी द्वारिका दास शास्त्री : न्याय दर्शनम्, पृष्ठ–342.
10. वही, पृष्ठ–343
11. स्वामी द्वारिका दास शास्त्री : न्याय दर्शनम्, पृष्ठ– 342.
12. पं0 रंगनाथ पाठक : षड्दर्शन रहस्य पृष्ठ–119.
13. प्रो0 लक्ष्मीलाल के0 ओड– शिक्षा की दार्शनिक पृष्ठभूमि–पृ0 1991।
14. डॉ0 एस0 राधाकृष्णन– भारतीय दर्शन, भाग–2 (हिन्दी अनुवाद) पृ0 172।
15. प्रो0 वाचस्पति गैरोला : भारतीय दर्शन, पृष्ठ– 203–204.
16. स्वामी द्वारिकादास शास्त्री– न्याय दर्शनम्, पृष्ठ–338.
17. वही, पृ0 338.
18. स्वामी द्वारिका दास शास्त्री : न्याय दर्शनम्, पृष्ठ– 344.